जैन-आचारसंहिता

डॉ. सुधा जैन
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...

धर्मसाधना का आधार आचार होता है, क्योंकि आचार से ही साधक के संयम में वृद्धि होती है, समता का विकास होता है। फलतः साधक आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छू पाता है। योग के लिए चारित्र एक आवश्यक अंग है। हमारी भारतीय परम्परा में यह कहा गया है कि व्यक्ति का जैसा आचार होता है, वैसा ही उसका विचार भी होता है। आचार और विचार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इसलिए इन दोनों के परिपालन से ही सम्यक् चारित्र का उत्कर्ष होता है। लेकिन जब तक मन वासनाओं से निवृत्त नहीं हो जाता, तब तक न चित्त की स्थिरता प्राप्त हो सकती है, न धर्म-ध्यान हो सकता है और न योग हो सकता है। मन के कारण ही इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, जिससे रागादि प्रकृतियों की वृद्धि होती है तथा कर्म-प्रकृतियों का बंधन होता है। चंचल मन को सर्वथा स्थिर करना योग का प्रथम कार्य है, क्योंकि चंचल मन द्वारा किया गया कार्य चाहे पुण्य-प्रकृति का हो या पापप्रकृति का, दोनों में ही संसारबंधन होता है। इसलिए वासनाओं से विमुक्ति अथवा ब्रह्मचर्य को योग में आवश्यक माना गया है। अतः सम्यक् योग साधना के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मन को स्थिर कर चित्त को शुद्ध किया जाए।

जैन-दर्शन में सम्यक् चारित्र को योग-साधना का मूल आधार माना गया है। योगशास्त्र में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र को मोक्ष का कारण कहा गया है।[१] जिनमें चारित्र का स्थान प्रमुख है, क्योंकि चारित्र ज्ञान और दर्शन की सिद्धि का कारण है।[२] सम्यक् चारित्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि संसार के कारणभूत राग-द्वेषादि की निवृत्ति के लिए कृतसंकल्प विवेकी पुरुष का शरीर, वचन की बाह्य क्रियाओं से एवं आभ्यन्तर मानस क्रिया से विरक्त होकर स्वरूपावस्थिति प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है।[३] चारित्र की दृढ़ता एवं संपन्नता के लिए जैन-दर्शन में विभिन्न व्रतों, क्रियाओं, विधियों, नियमों-उपनियमों का विधान किया गया है, जिसके अंतर्गत तप, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि प्रमुख हैं। परन्तु ध्यान का स्थिरीकरण मन की स्थिरता पर निर्भर करता है, जिस साधक ने मन को अपने अधीन कर लिया, उसके लिए संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जिसे वश में न किया जा सके।[४] अतः मन को वश में करना ही सम्यक् योग का प्रथम सोपान है। कहा भी गया है – मन की समाधि योग का हेतु तथा तप का निदान है, क्योंकि मन को केन्द्रित करने के लिए तप आवश्यक है। तप शिवशर्म का मोक्ष का मूल कारण है।[५]

ध्यान और मन का संबंध अत्यन्त घनिष्ठ है। ध्यान का स्थिरीकरण मन की स्थिरता पर ही निर्भर करता है। आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है – १. विक्षिप्त मन २. यातायात मन ३. श्लिष्ट मन और ४. सुलीन मन।[६] प्रथम दो अवस्थाओं में अर्थात् विक्षिप्त और यातायात में मन स्वभाव से चंचल होता है। दोनों में अंतर इतना ही है कि प्रथम अवस्था में चंचलता अधिक होती है और द्वितीय अवस्था में चंचलता प्रथमावस्था की अपेक्षा थोड़ी कम होती हैं। अतः इन दोनों की शान्ति के लिए अभ्यास आवश्यक है। इसी प्रकार श्लिष्ट मन की अवस्था यातायात के बाद प्रारंभ होती है। श्लिष्ट अवस्था में मन का विरोध होने से चित्तवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं तथा साधक को आंतरिक शक्ति का आभास होने लगता है। अंत में सुलीनावस्था में साधक आत्मलीन हो जाता है तथा उसे परमानंद की स्वानुभूति होने लगती है।[७]

मन या चित्त की शुद्धि के उपाय – जैन-ग्रन्थ षोडशक में चित्तशुद्धि के पाँच प्रकारों[८] का वर्णन आया है। चित्तशुद्धि के बिना साधक साधना में संलग्न हो ही नहीं सकता। अतः योग साधना के आधारभूत तत्त्व के रूप में चित्तशुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया है। वे पाँच प्रकार निम्नांकित हैं –

१. प्रणिधान – आचार-विचार को संतुलित रखते हुए निम्न कोटि के जीवों के प्रति राग-द्वेष की भावना का न रखना प्रणिधान कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. प्रवृत्ति - निर्दिष्ट व्रत-नियमों या अनुष्ठानों का एकाग्रता पूर्वक सम्यक् पालन करना प्रवृत्ति है।

३. विघ्नजय - यम-नियम आदि का पालन करते समय उपस्थित बाह्य एवं आंतरिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना विघ्नजय कहलाता है।

४. सिद्धि - सिद्धि से चित्त शुद्धि में साधक को सम्यक् दर्शनादि की प्राप्ति होती है और वह आत्मानुभव में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करता। उसकी कषाय से उत्पन्न सारी चंचलता नष्ट हो जाती है और वह निम्नवर्ती जीवों के प्रति दया, आदर-सत्कार आदि का ख्याल रखने लगता है।

५. विनियोग - इस अवस्था में साधक में धार्मिक वृत्तियों की क्षमता आ जाती है तथा निरंतर आत्मिक विकास होने लगता है। फलतः साधक में परोपकार, कल्याण आदि भावनाओं की वृद्धि होती है। वृद्धि की यही अवस्था विनियोग कहलाती है।[९]

इनके अतिरिक्त विभिन्न व्रतों, क्रियाओं, विधियों, नियम-उपनियमों आदि का विधान किया गया है, जिनमें आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान आदि प्रमुख माने गए हैं। कहा भी गया है कि ध्यानादि उत्तरोत्तर चित्त की शुद्धि करते हैं, इसलिए ये चारित्र ही हैं।[१०]

जैन-परम्परा दो प्रकार की आचार-संहिताओं का विधान करती है। एक श्रावकों के लिए और दूसरी श्रमणों के लिए। क्योंकि दोनों की साधनाभूमि अथवा जीवनव्यवहार अलग-अलग हैं। मुनि जहाँ बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्यागी होती है, वहीं श्रावक कुछ परिग्रहों का त्यागी होता है। इसलिए दोनों के लिए अलग-अलग आचारों का विधान किया गया है। श्रमणों की तुलना में श्रावकों को परिस्थिति एवं काल की अपेक्षा से मर्यादित व्रत-नियमों का पालन करना पड़ता है, फिर भी योग-साधना के लिए उसे पूरी छूट है। मुनि या श्रमण तो पूर्ण विरक्त या गृह-त्यागी होता है, जिससे वह योग-साधना करने में सक्षम होता है, लेकिन एक श्रावक के सर्वत्यागी बनने में शंका उपस्थित होती है, क्योंकि जीवकोपार्जन के लिए उसे विविध उद्योग आदि का आलंबन लेना पड़ता है। ऐसे श्रमण की भाँति वह भी सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त होकर योगसाधना से संपन्न हो सकता है। इन्हीं दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए जैन-परम्परा में दो आचार-संहिताओं का विधान किया गया है। एक का नाम है - श्रावकाचार, तो दूसरी का नाम है - श्रमणाचार।

श्रावकों की आचार संहिता - सामान्य भाषा में गृहस्थ के लिए श्रावक शब्द का प्रयोग होता है। जैनागमों में श्रावक के लिए विभिन्न शब्दों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। यथा - देश - संयमी, गृहस्थ, श्राद्ध, उपासक, अणुव्रती, देशविरत, आगारी आदि।[११] श्रावकों के प्रकारों को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई श्रावकों के दो भेदों को मानते हैं, तो कोई तीन और कोई चार। जैसे धर्मामृत में श्रावक के तीन प्रकार बताए गए हैं - १. पाक्षिक २. नैष्ठिक और ३. साधक।[१२] चारित्रसार में श्रावक को ब्रह्मचर्य २. गृहस्थ ३. वानप्रस्थ और ४. संन्यास-इन चार आश्रमों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१३] इसी प्रकार धर्मबिन्दु में आचार्य हरिभद्र ने १. सामान्य और २. विशेष के रूप में श्रावकों के दो भेद बताए हैं।[१४]

श्रावकधर्म के विषय में भी जैनाचार्य एकमत नहीं हैं। जैसा कि डॉ. मोहनलाल मेहता ने अपनी पुस्तक 'जैन आचार' में उल्लेख किया है - उपासकदशांग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि में संलेखना सहित बारह व्रतों के आधार पर श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया गया है। वहीं आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र-प्राभृत, स्वामी कार्तिकेय ने द्वादश अनुप्रेक्षा में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि-श्रावकाचार में ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक धर्म का निरूपण किया है।[१५]

श्रावक के बारह व्रत - योगशास्त्र में श्रावक के बारह व्रत इस प्रकार कहे गए हैं - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत।[१६] आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्यारह प्रतिमाओं के साथ ही बारह व्रतों का उल्लेख किया है।[१७] परन्तु कहीं-कहीं पाँच अणुव्रतों को मूलगुण भी माना गया है और इनके साथ मद्य, माँस एवं मधु का त्याग भी मूलगुण के अंतर्गत रखा गया है।[१८] इसी प्रकार कहीं अणुव्रतों के साथ जुआ, मद्य एवं माँस के त्याग को भी मूलगुण माना गया है।[१९]

अणुव्रत - जिस प्रकार सर्वविरत श्रमण के लिए पाँच महाव्रतों का विधान किया गया है, उसी प्रकार श्रावक के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान किया है। या यों कहा जा सकता है कि जैसे महाव्रतों के अभाव में श्रमण का श्रामण्य निर्जीव-सा प्रतीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, वैसे ही अणुव्रतों के अभाव में श्रावक-धर्म निष्प्राण लगता है। यही कारण है कि अणुव्रतों को श्रावक का मूलगुण कहा जाता है। महाव्रतों का पालन तीन योग यानी मन, वचन, काया तथा तीन करण यानी करना, करवाना और अनुमोदन करना, से पालन किया जाता है।[२०] जबकि अणुव्रतों का पालन तीन योग तथा दो करण (करना, करवाना) से किया जाता है।[२१] श्रावक के मूलगुण रूपी पाँच अणुव्रतों का विवरण इस प्रकार है –

१. स्थूल प्राणातिपातविरमण – गृहस्थ साधक स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा से विरत होता है। इसलिए इस अणुव्रत का नाम स्थूल प्राणातिपात-विरमण रखा गया है।[२२] इसे अहिंसाणुव्रत भी कहा जाता है। जैसा कि उपासक-दशांगसूत्र में कहा गया है कि मैं किसी भी निरपराध-निर्दोष स्थूल त्रस प्राणी की जानबूझकर संकल्पपूर्वक मन, वचन और कर्म से न तो स्वयं हिंसा करूँगा और न करवाऊँगा।[२३] आचार्य हेमचन्द्र ने तो यहाँ तक कहा है – 'अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मुक्ति का अभिलाषी श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करे।[२४]

श्रावक द्वारा सावधानीपूर्वक व्रत का पालन करते हुए भी कभी-कभी प्रमादवश दोष लगने की संभावना रहती है। अतः निम्नलिखित दोषों से साधक को बचना चाहिए।[२५]

(क) बन्ध - किसी भी त्रस प्राणी को कठिन बंधन से बाँधना या उसे किसी भी इष्ट स्थान पर जाने से रोकना। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को निश्चित समय से अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समय के उपरान्त कार्य लेना आदि बंध है।

(ख) वध - किसी भी प्राणी को मारना वध है। इनके अतिरिक्त निर्दयतापूर्वक क्रोध में अपने आश्रित किसी भी व्यक्ति को मारना-पीटना, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि को लकड़ी, चाबुक, पत्थर आदि से मारना, किसी का अनैतिक ढंग से शोषण कर अपनी स्वार्थपूर्ति करना आदि वध के अंतर्गत ही आते हैं।

(ग) छविच्छेद - किसी भी प्राणी का अंगोपांग काटना छविच्छेद कहलाता है।

(घ) अतिभार - प्राणियों से आवश्यकता से अधिक, उसकी शक्ति से ज्यादा काम लेना या बोझा लाद देना अतिभार है।

(ङ) अन्नापाननिरोध - नौकर आदि को समय पर खाना न देना, पूरा खाना न देना, अपने पास संग्रह होने पर भी आवश्यकता के समय किसी की सहायता न करना आदि अन्नापान -निरोध कहलाता है।

२. स्थूल मृषावाद - असत्य या झूठे व्यवहार का त्याग करना स्थूल मृषावाद है। जैसे हिंसा को न करना प्राणातिपात विरमण है और उससे साधक को बचना आवश्यक है। उसी प्रकार स्थूल मृषावाद यानी झूठ से बचना भी शक्य है।

उपासकदशांग में कहा गया है कि मैं स्थूल मृषावाद का यावत् जीवन के लिए मन, वचन और काम से त्याग करता हूँ, मैं न स्वयं मृषा भाषण करूँगा न अन्य से करवाऊँगा।[२६] झूठ बोलने के कारणों का उल्लेख करते हुए श्रावक-प्रतिक्रमण में पाँच प्रकार के स्थूल मृषा का निरूपण किया गया है।[२७] जो इस प्रकार हैं –

(१) पुत्र-पुत्रियों के विवाह के निमित्त सामने वाले पक्ष के सम्मुख झूठी प्रशंसा करना-करवाना आदि।

(२) पशु-पक्षियों के क्रय-विक्रय में मिथ्या प्रशंसा का आश्रय लेना।

(३) भूमि के संबंध में झूठ बोलना-बुलवाना।

(४) झूठी गवाही देना-दिलवाना और

(५) रिश्वत खाना-खिलाना आदि।

इसी को आचार्य हेमचन्द्र ने कन्यालीक, गो-अलीक, भूमिअलीक, न्यासापहार तथा कूट-साक्षी आदि के रूप में निरूपित किया है और कहा है कि ये सभी लोक-विरुद्ध हैं, विश्वासघात के जनक हैं तथा पुण्य-नाशक हैं, इसलिए श्रावकों को स्थूल असत्य से बचना चाहिए।[२८] साधक कितनी भी सावधानीपूर्वक स्थूल मृषावाद-विरमण का पालन करे, फिर भी दोषों की संभावना बनी रहती है। उपासकदशांग में इन्हीं दोषों से बचने के लिए पाँच प्रकार बताए गये हैं[२९] –

(क) सहसा - अभ्याख्यान - बिना सोचे-समझे किसी पर झूठा आरोप लगा देना, किसी के प्रति लोगों में गलत धारणा पैदा करना, सज्जन को दुर्जन कहना आदि सहसा-अभ्याख्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अंतर्गत आता है।

(ख) रहस्य-आख्यान - किसी की गोपनीय बात को किसी अन्य के सामने प्रकट कर देना रहस्य-आख्यान कहलाता है।

(ग) स्वदार अथवा स्वपतिमंत्रभेद - पति-पत्नी की गुप्त बातों को किसी के सामने प्रकट कर देना स्वदार या स्वपतिमंत्रभेद कहलाता है।

(घ) मृषा-उपदेश - किसी भी व्यक्ति को सच-झूठ समझाकर कुमार्ग की ओर प्रेरित करना मृषा-उपदेश है।

(ङ) कूट-लेखकरण - झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, झूठे सिक्के तैयार करना आदि कूट-लेखकरण अतिचार कहलाता है।

३. स्थूल अदत्तादान-विरमण - अदत्तादान का अर्थ ही होता है बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण (आदान)। श्रावक के लिए ऐसी चोरी का त्याग अनिवार्य है, जिसके करने से राजदण्ड भोगना पड़े, समाज में अविश्वास उत्पन्न हो, प्रामाणिकता नष्ट हो, प्रतिष्ठा को धक्का लगे। इस प्रकार की चोरी का त्याग ही जैन आचार शास्त्र में स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत के नाम से प्रसिद्ध है। योगशास्त्र में कहा गया है कि बना किसी की आज्ञा के किसी वस्तु को ले लेने पर मन में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, दिन-रात, सोते-जागते, चौर्यकर्म की चुभन होती रहती है।[३०] उपासक -दशांग में निम्नलिखित पाँच अतिचारों से बचने का निर्देश दिया गया है -

(क) स्तेनाहत - चोरी की वस्तु खरीदना या बेचना स्तेनाहत है।

(ख) तस्कर-प्रयोग - चोरी करने की प्रेरणा देना, चोर को सहायता देना, तस्कर को शरण देना आदि तस्कर प्रयोग कहलाता है।

(ग) राज्यादिविरुद्ध कर्म - राजकीय नियमों का उल्लंघन करना राज्यादिविरुद्ध कर्म कहलाते हैं।

(घ) कूटतौल-कूटमान - वस्तु के लेन-देन में न्यून या अधिक का प्रयोग करना कूटतौल-कूटमान कहलाता है।

(ङ) तत्प्रतिरूपक व्यवहार - वस्तुओं में मिलावट करना तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

४. स्वदार-संतोष - अपनी पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ मैथुन-सेवन का मन, वचन व कायपूर्वक त्याग करना स्वदार-संतोष व्रत कहलाता है। उपासकदशांग में वर्णन आया है कि मैं स्वपत्नी-संतोषव्रत ग्रहण करता हूँ, पत्नी के अतिरिक्त अवशिष्ट मैथुन का त्याग करता हूँ।[३१] अन्य व्रतों की भाँति स्वदार-संतोष के भी पाँच अतिचार बतलाए गए हैं, जिनसे श्रावक को बचना चाहिए।[३२]

(क) इत्वरिक-परिगृहीता-गमन - इत्वरिक का अर्थ होता है - अल्पकाल, परिग्रहण का अर्थ होता है - स्वीकार करना, गमन का अर्थ होता है - काम-भोग-सेवन अर्थात् अल्पकाल के लिए स्वीकार की गई स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन करना। श्रावक के लिए ऐसे मैथुन का निषेध किया गया है।

(ख) अपरिगृहीतागमन - वह स्त्री, जिस पर किसी प्रकार का अधिकार न हो, अर्थात् वेश्या, कुलटा, वियोगिनी आदि का उपभोग करना आदि अपरिगृहीता-गमन कहलाता है।

(ग) अनंगक्रीड़ा - प्राकृतिक रूप से कामवासनाओं की पूर्ति न करके अप्राकृतिक रूप से वासना की पूर्ति करना अनंगक्रीड़ा कहलाता है, यथा - हस्तमैथुन, समलैंगिक मैथुन, कृत्रिम साधनों द्वारा कामाचार का सेवन करना आदि।

(घ) परविवाहकरण - कन्यादान में पुण्य समझकर अथवा रागादि के कारण दूसरों के लिए लड़के, लड़कियाँ ढूँढना, उनकी शादियाँ कराना आदि कर्म परविवाहकरण अतिचार है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ साधक को स्वसंतान एवं परिजनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के विवाह-संबंध कराने का निषेध है।

(ङ) कामभोग-तीव्राभिलाषा - कामरूप एवं भोगरूप विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखना अर्थात् इनकी अत्यधिक आकांक्षा करना कामभोग तीव्राभिलाषा अतिचार है।

५. इच्छा-परिमाण - इच्छाएँ अनंत होती हैं। इन अनंत इच्छाओं की मर्यादा निर्धारित करना या नियंत्रित करना ही इच्छा-परिमाण है। अर्थात् गृहस्थ को परिग्रहासक्ति से बचने के लिए परिग्रह की सीमा-रेखा निश्चित की गई है। धन-धान्यादि के संग्रह से ममत्व घटाना अथवा लोभ-कषाय को कम करके संतोषपूर्वक वस्तुओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आवश्यकताभर उपयोग करना परिग्रह परिमाण-व्रत है।[३३] इस व्रत के भी पाँच अतिचार बताए गए हैं, जिनसे श्रावक साधकों को बचना चाहिए।[३४]

(क) क्षेत्रवस्तु-परिमाण-अतिक्रमण - मकानों, दुकानों तथा खेतों की मर्यादा को किसी भी बहाने से बढ़ाना।

(ख) हिरण्य-सुवर्ण-परिमाण-अतिक्रमण - सोने-चाँदी आदि के परिमाण को भंग करना।

(ग) धन-धान्य-परिमाण-अतिक्रमण - मुद्रा, जवाहरात आदि की मर्यादा को भंग करना।

(घ) द्विपद-चतुष्पद-परिमाण-अतिक्रमण - दास-दासी, नौकर, कर्मचारी आदि के परिमाण का उल्लंघन करना।

(ङ) कुव्य-परिमाण-अतिक्रमण - दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्त्र, पात्र, आसन आदि वस्तुओं के लिए परिमाण का उल्लंघन करना।

गुणव्रत - अणुव्रतों की रक्षा एवं विकास के लिए जैनाचार में गुणव्रतों की व्यवस्था की गई है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि अणुव्रतों की भावनाओं की दृढ़ता के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। धर्मामृत (सागर) में इसके तीन भेद बताए गए हैं - दिग्व्रत, अनर्थदण्ड और भोगोपभोग परिमाणव्रत।[३५]

१. दिग्व्रत - जिस व्रत में उसके द्वारा दिशाओं की सीमा निर्धारित की जाती है, उसे दिग्व्रत कहते हैं।[३६] अनंत इच्छाओं की त्यागवृत्ति के द्वारा मर्यादा निश्चित करना दिग्व्रत है। इसलिए इसे दिशापरिमाण के नाम से भी जाना जाता है। इसके भी पाँच अतिचार हैं-

(क) उर्ध्वदिशा-परिमाण-अतिक्रमण - ऊँची दिशा के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करने पर लगने वाले दोष का नाम उर्ध्वदिशा परिमाण अतिक्रमण है।

(ख) अधोदिशा परिमाण अतिक्रमण - नीचे की दिशा के परिमाण का उल्लंघन करने पर लगने वाला दोष अधोदिशा परिमाण-अतिक्रमण-कहलाता है।

(ग) तिर्यकदिशा-परिमाण-अतिक्रमण - उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम तथा उनके कोणों में गमनागमन की मर्यादा के उल्लंघन से लगने वाला दोष तिर्यक्परिमाणअतिक्रमण कहलाता है।

(घ) क्षेत्रवृद्धि - मनमाने ढंग से क्षेत्र की मर्यादा को बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है।

(ङ) स्मृत्यन्तर्धा - सीमा का स्मरण न रहने पर लगने वाला दोष स्मृत्यन्तर्धा अतिचार कहलाता है।

२. अनर्थदण्डव्रत - बिना किसी प्रयोजन के हिंसा करना अनर्थदण्ड कहलाता है और हिंसापूर्ण व्यापार-व्यवसाय के अतिरिक्त समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदंण्ड विरमण व्रत है। इस व्रत में पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है। जैसे -

(क) अपध्यान - आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग, क्योंकि इससे श्रावक के अंदर अशुभ चिन्तन की क्रिया होती रहती है।

(ख) प्रमादाचरण - आलस्य का सेवन करना प्रमादाचरण है। प्रमादाचरण वाले व्यक्ति की शुभ में प्रवृत्ति नहीं होती, यदि होती भी है, तो असावधानी पूर्वक करता है।

(ग) हिंसादान - व्यक्ति अथवा राष्ट्र को हिंसक शस्त्र आदि देकर हिंसा की संभावना को बढ़ावा देना भी अनर्थदण्ड है।

(घ) पापकर्मोपदेश - जिस उपदेश के सुनने से व्यक्ति पाप कर्म में प्रवृत्त हो, वैसा उपदेश देना पापकर्मोपदेश कहलाता है।

अहिंसादि व्रतों के सम्यक् पालन के लिए तथा आत्मविशुद्धि के लिए अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए। यह त्यागरूपव्रत ही अनर्थदण्ड व्रत है।[३७] इसके भी पाँच अतिचार बताए गए हैं -

(क) संयुक्ताधिकरण - जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढ़ जाती है, उन्हें संयुक्त रखना संयुक्ताधिकरण अतिचार कहलाता है।

(ख) उपभोग परिभोगातिरिक्त - आवश्यकंता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री संग्रह रखना उपभोगपरिभोगातिरिक्त अतिचार है।

(ग) मौखर्य - असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना मौखर्य है।

(घ) कौत्कुच्य - विकारवर्धक चेष्टाएँ करना या देखना कौत्कुच्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ङ) **कन्दर्प** - विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना कंदर्प है।

३. **भोगोपभोग परिमाण व्रत** - एक बार भोगने योग्य आहार आदि भोग कहलाते हैं और जिन्हें बार-बार भोगा जा सके, ऐसे सब वस्त्र, पात्र आदि परिभोग या उपभोग कहलाते हैं।[३०] इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा बांध लेना उपभोग-परिभोग परिमाण है। इसके भी पाँच अतिचार बताए गए हैं[३१]

(क) **सचित्ताहार** - जो वस्तु मर्यादा के बाहर है, उसे आहार रूप में ग्रहण करना सचित्ताहार अतिचार है।

(ख) **सचित्तप्रतिबद्धाहार** - सचित्त वस्तु से संसक्त अर्थात् लगी हुई उचित वस्तु का आहार करने पर सचित्त प्रतिबद्धाहार दोष लगता है।

(ग) **अपक्वाहार** - बिना अग्नि के पके आहार का सेवन करने पर अपक्वाहार दोष लगता है।

(घ) **दुष्पक्वाहार** - अनेक द्रव्यों से संयोग से निर्मित सुरा, मदिरा आदि का सेवन करने अथवा दुष्ट रूप से पके पदार्थों को ग्रहण करने पर दुष्पक्वाहार दोष लगता है।

(ङ) **तुच्छोषधिभक्षण** - जो वस्तु खाने के काम में कम आए और फैंकने में अधिक जाए, ऐसी वस्तु का सेवन करने पर तुच्छोषधिभक्षण दोष लगता है।

शिक्षाव्रत - जैनाचार्यों के अनुसार शिक्षा का अर्थ अभ्यास होता है। अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है, ठीक उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का बार-बार अभ्यास करना पड़ता है। बार-बार यही अभ्यास शिक्षाव्रत कहलाता है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन भर के लिए ग्रहण किया जाता है और शिक्षाव्रत कुछ समय के लिए। शिक्षाव्रत के मुख्यतः चार भेद हैं - सामायिक, प्रोषधोपवास, देशावकाशिक और अतिथि संविभाग।[४०]

१. **सामायिक** - सामायिक अर्थात् समत्व का अभ्यास। सामायिक आत्मा का वह भाव अथवा शरीर की वह क्रिया विशेष है, जिसमें मनुष्य को सम्मान की प्राप्ति होती है। इसके भी पाँच अतिचार हैं, जिनसे सामायिक व्रत दूषित होते हैं।[४१]

(क) मन से सावद्य भावों का चिन्तन करना।

(ख) वाणी से सावद्य वचन बोलना।

(ग) शरीर से सावद्य क्रिया करना।

(घ) सामायिक के प्रति अनादर भाव रखना।

(ङ) समय पूरा किए बिना ही सामायिक पूरी कर लेना।

२. **प्रोषधोपवास** - आत्म चिन्तन के निमित्त सर्व सावद्य क्रिया का त्याग कर शान्तिपूर्ण स्थान में बैठकर उपवासपूर्वक समय व्यतीत करना प्रोषधोपवास है। योगशास्त्र में कहा गया है कि कषायों को त्यागकर प्रत्येक चतुदर्शी एवं अष्टमी के दिन उपवास करके तप, ब्रह्मचर्यादि धारण करना प्रोषधोपवास कहलाता है।[४२] इस व्रत के भी पाँच दोष हैं, जिनसे साधकों को बचना चाहिए।[४३]

(क) **अप्रतिलेखित - दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक** - बिना देखे हुए शय्या आदि का उपयोग करना।

(ख) **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक** - अप्रमार्जित शय्यादि का प्रयोग करना।

(ग) **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्र वण भूमि**- ठीक-ठीक बिना देखे हुए शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।

(घ) **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्र मण भूमि** - अप्रमार्जित शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।

(ङ) **प्रोषधोपवास-सम्यगननुपालनता** - शय्या प्रोषधापवास का सम्यक् रूप से पालन नहीं करना यानी प्रोषध में निंदा, विकषा, प्रमादादि का सेवन करना।

३. **देशावकाशिक व्रत** - देश यानी क्षेत्र का एक अंश और अवकाश अर्थात् स्थान दिशा परिमाण व्रत जीवनभर के लिए मर्यादित दिशाओं के दिन एवं रात्रि में यथोचित कुछ घंटों या दिनों के लिए संक्षेपण करना देशावकाशिक व्रत कहलाता है।[४४] इनके भी पाँच अतिचार हैं -

(क) **आनयन प्रयोग** - मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मँगवाना।

(ख) **प्रेष्य प्रयोग** - मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना या ले जाना।

(ग) **शब्दानुपात** - निर्धारित क्षेत्र के बाहर किसी को खड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर शब्द संकेत करना।

(घ) रूपानुपात - हाथ, मुँह, सिर आदि से संकेत करना।

(ङ) पुद्गलप्रक्षेप - बाहर खड़े हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के लिए कंकड़ आदि फैंकना।

४. **अतिथि-संविभाग** - अपने निमित्त बनाई हुई अपने अधिकार की वस्तु का अतिथि के लिए समुचित विभाग करना अतिथिसंविभाग है। अन्य व्रतों की भाँति इसके भी पाँच अतिचार हैं।[४५] जिनसे साधकों को बचना चाहिए -

(क) सचित्त निक्षेप - सचित्त पदार्थों से आहारादि को ढकना ताकि श्रमण आदि उसे ग्रहण न कर सकें।

(ख) सचित्त पिधान - आहारादि वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रख देना।

(ग) कालातिक्रम - भिक्षा का समय बीत जाने पर भोजन बनाना।

(घ) परव्यपदेश - न देने की भावना से अपनी वस्तु को दूसरों की बताना।

(ङ) मात्सर्य - ईर्ष्यापूर्वक दान देना मात्सर्य है।

ग्यारह प्रतिमाएँ - प्रतिमाएँ आत्म-विकास के क्रमिक सोपान हैं, जिनके सहारे श्रावक अपनी शक्ति के अनुरूप मुनि-दीक्षा ग्रहण करने की स्थिति में पहुँचता है। प्रतिमा का अर्थ होता है - प्रतिज्ञा विशेष, व्रत विशेष, तप विशेष अथवा अभिग्रह विशेष।[४६] जैनागमों में प्रतिमाओं की संख्या ग्यारह मानी गई है।[४७] परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में प्रतिमा के विषय में अंतर देखने को मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा में प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं - दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्त-त्याग, आरंभ-त्याग, प्रेष्य-परित्याग, उद्दिष्ट त्याग एवं श्रमणभूत।[४८] जबकि दिगम्बर परम्परा में दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-त्याग, रात्रि भुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग एवं उदिदष्ट-त्याग का वर्णन मिलता है।[४९] दोनों परम्पराओं में प्रतिमा के प्रकारों को देखने से ऐसा लगता है कि दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है।

दर्शनप्रतिमा - अध्यात्म मार्ग की यथार्थता के संबंध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा का होना दर्शनप्रतिमा है।

व्रत-प्रतिमा - गृहस्थ जीवन के पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों का निर्दोष रूप से पालन करना व्रत-प्रतिमा है।

सामायिक-प्रतिमा - समत्व के लिए किया जाने वाला प्रयास सामायिक कहलाता है। श्रावक साधक को नियमित रूप से तीनों संध्याओं में मन, वचन और कर्म से निर्दोष रूप में समत्व की आराधना करनी होती है।

प्रोषधोपवास-प्रतिमा - प्रत्येक माह की अष्टमी और चतुर्दशी को गृहस्थी के समस्त क्रिया-कलापों से अवकाश पाकर उपवास सहित शुद्ध भावना के साथ आत्मसाधना में रत रहना प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

नियम-प्रतिमा - इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का पालन करते हुए पाँच विशेष नियमों के व्रत लिए जाते हैं - स्नान नहीं करना, रात्रि भोजन नहीं करना, धोती की एक लाँग नहीं बांधना, दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिन रात्रि पर्यन्त देहासक्ति त्यागकर कायोत्सर्ग करना।

ब्रह्मचर्य-प्रतिमा - इसमें श्रावक दिन की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्त आहारवर्जन प्रतिमा - श्रावक साधक सभी प्रकार के सचित्त आहार का त्याग कर देता है, लेकिन आरंभी हिंसा का त्याग नहीं करता है।

आरंभत्यागप्रतिमा - श्रावक साधक मन, वचन एवं काम से कृषि सेवा, व्यापार आदि को आरंभ करने का त्याग कर देता है किन्तु दूसरों से आरंभ करवाने का त्याग नहीं करता।

परिग्रह-त्याग-प्रतिमा - श्रावक उस सम्पत्ति पर से भी अपना अधिकार हटा लेता है तथा निवृत्ति की दिशा में एक कदम आगे बढ़कर परिग्रह विरत हो जाता है।

अनुमति-विरत-प्रतिमा - गृहस्थ साधक ऐसे आदेशों और उपदेशों से दूर रहता है, जिनके कारण किसी भी प्रकार की स्थावर या त्रस हिंसा की संभावना होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्दिष्ट-त्याग-प्रतिमा - इसमें साधक गृहस्थ होते हुए भी साधु की भाँति आचरण करता है।

इस प्रकार प्रतिमाएँ तपसाधना की क्रमशः बढ़ती हुई अवस्थाएँ हैं, अतः उत्तर-उत्तर प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के गुण स्वतः ही समाविष्ट होते जाते हैं। फलतः साधक निवृत्ति की दिशा में क्रमिक प्रगति करते हुए अंत में पूर्ण निवृत्ति के आदर्श को प्राप्त करता है।

षडावश्यक - षडावश्यक जिसे श्रावक के छह आवश्यक कर्म भी कहा जाता है,[५०] श्रावक-जीवन के आवश्यक कर्म हैं। जो इस प्रकार हैं -

१. **देवपूजा** - अरिहंत प्रभु की प्रतिमाओं का पूजन अथवा उनके आदर्श स्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान करना।

२. **गुरुसेवा** - भक्तिपूर्वक गुरु की वंदना करना, उनका सम्मान करना तथा उनके उपदेशों का श्रवण करना।

३. **स्वाध्याय** - आत्म-स्वरूप का चिन्तन-मनन करना।

४. **संयम** - वासनाओं और तृष्णाओं पर अंकुश रखना।

५. **तप** - तप के द्वारा इन्द्रियों का दमन किया जाता है, जिससे शारीरिक प्राकृतिक या अन्यकृत पीड़ा को सहन करने में समर्थ हो सकें।

६. **दान** - प्रतिदिन श्रमण, स्वधर्मी बंधुओं और असहायों को कुछ न कुछ दान करना।

श्रमणाचार या श्रमणों की आचार संहिता - श्रमण के व्रत महाव्रत कहलाते हैं, क्योंकि साधु या निर्ग्रन्थ हिंसादि का पूर्णतः त्याग करता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह योग-सिद्धि के मूल साधन हैं। साधु समाचारी के विषय में कहा गया है कि गुरु के समीप बैठना, विनय करना, निवास स्थान की शुद्धि रखना, गुरु के कार्यों में शांतिपूर्वक सहयोग करना, गुरु-आज्ञा को निभाना, त्याग में निर्दोषता, भिक्षावृत्ति से रहना, आगम का स्वाध्याय करना एवं मृत्यु आदि का सामना करना आवश्यक है।[५१] दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में साधु के क्रमशः २८ एवं २७ मूलगुण माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं -

दिगम्बर-परम्परा[५२]	श्वेताम्बर-परम्परा[५३]
पंच महाव्रत	पंच महाव्रत
पंचेन्द्रियों का संयम	पंचेन्द्रियों का संयम
पंच समितियाँ	अरात्रि भोजन
षडावश्यक	आंतरिक पवित्रता
केशलुंचन	भिक्षु-उपाधि की पवित्रता
नग्नता	क्षमा
अस्नान	अनासक्ति
भूशयन	मन, वचन और काय की सत्यता
अदन्तधावन	छह प्रकार के प्राणियों का संयम
खड़े होकर भोजन ग्रहण करना	तीन गुप्ति
एक समय भोजन करना आदि।	सहनशलीता, संलेखना आदि।

मूलगुणों के संबंध में जहाँ दिगम्बर-परम्परा बाह्य तत्त्वों पर अधिक बल देती है, वहीं श्वेताम्बर परम्परा आंतरिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देती है।

पंच महाव्रत - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों को पंच महाव्रत के नाम से जाना जाता है।

१. **अहिंसा** - किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना अहिंसा है।[५४] तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना को इस प्रकार समझ सकते हैं -

१. मन से हिंसा न करना।
२. मन से हिंसा न करवाना।
३. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
४. वचन से हिंसा न करना।
५. वचन से हिंसा न करवाना।
६. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
७. काय से हिंसा न करना।
८. काय से हिंसा न करवाना।
९. काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन नौ प्रकारों से प्राणी का घात न करना ही **अहिंसा है।** अहिंसा के पालन से मनुष्य में निर्भयता, वीरता, क्षमा, दया आदि आत्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ हैं -

(१) ई र्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान समिति (५) मनः समिति।

२. **सत्य** - असत्य का परित्याग करना तथा यथाश्रुत वस्तु के स्वरूप का कथन सत्य कहलाता है। इसका भी तीन योग और तीन करण से श्रमण को पालन करना होता है। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं[५५]

(१) विवेक-विचारपूर्वक बोलना।

(२) क्रोध से बचना।

(३) लोभ से सर्वथा दूर रहना।

(४) भय से अलग रहना।

(५) हास-परिहास से अलग रहना।

३. **अस्तेय** - बिना दिए हुए परवस्तु का ग्रहण स्तेय कहलाता है। अतः मन, वचन और काम से चोरी न करना, करवाना और न करने वालों का अनुमोदन करना ही अस्तेय है। इस व्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं[५६]

(१) अनुवीचि ग्रहयाचन (२) अभीक्ष्य अवग्रहयाचन (३) अवग्रहधारण (४) साधार्मिक अवग्रहयाचन (५) अनुज्ञापित पान भोजन।

४. **ब्रह्मचर्य** - मन, वचन और काय से किसी भी काल में मैथुन न करना ब्रह्मचर्य व्रत है। इस की भी पाँच भावनाएँ हैं [५७]

(१) स्त्री-कथा-त्याग (२) मनोहर क्रियावलोकन-त्याग (३) पूर्वरति-विलास-स्मरण-त्याग (४) प्रणीतरस-भोजन-त्याग (५) शयनासन-त्याग।

५. **अपरिग्रह** - संसार के समस्त विषयों के प्रति राग तथा ममता का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। मूलाचार में अपरिग्रह व्रत के पालन का निर्देश देते हुए कहा गया है कि ग्राम, नगर, अरण्य, स्थूल, सचित्त तथा स्थूलादि से उल्टे सूक्ष्म अचित्य स्तोक जैसे अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को मन, वचन और काय द्वारा छोड़ दें।[५८] इनकी भी पाँच भावनाएँ हैं -

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति रागद्वेष-राहित्य।

(२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप से अनासक्त भाव रखना।

(३) घ्राणेन्द्रिय के विषय गंध के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(४) रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(५) स्पर्शेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव रखना।

गुप्ति एवं समिति - जैन-परम्परा में तीन गुप्तियों तथा पाँच समितियों का विधान है। गुप्तियाँ, मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती हैं और समितयाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं।[५९] कहा भी गया है कि योग का अच्छी प्रकार से निग्रह करना ही गुप्ति है। गुप्तियाँ श्रमण-साधना का निषेधात्मक रूप प्रस्तुत करती हैं, जबकि समितियाँ साधना को विधेयात्मक रूप से व्यक्त करती हैं। ये आठ गुण श्रमण - जीवन का संरक्षण उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार माता अपने पुत्र की करती है। इसलिए इन्हें अष्टप्रवचन-माता भी कहा जाता है।[६०]

गुप्ति - गुप्तियाँ तीन हैं - मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति।

१. **मनोगुप्ति** - राग-द्वेषादि कषायों से मन को निवृत्त करना मनोगुप्ति है।

२. **वचनगुप्ति** - अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग न करना वचन गुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र में अशुभ प्रवृत्तियों में जाते हुए वचन का निरोध करने को वचनगुप्ति कहा जाता है।[६१]

३. **कायगुप्ति** - शारीरिक क्रियाओं द्वारा होने वाली हिंसा से बचना कायगुप्ति है।

समिति - समितियाँ पाँच हैं - ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान और मनःसमिति।

१. **ईर्या समिति** - आने-जाने, उठने-बैठने आदि प्रवृत्ति के लिए चर्चा करते समय छोटे या बड़े जीव के प्रति क्लेशकारक प्रवृत्ति का बचाव करना।

२. **भाषा समिति** - बोलते समय क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय आदि से मुक्त हितमित सत्य और मधुर वचन बोलना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **एषणा समिति** - आहार, वस्त्र, शय्या आदि की पूर्ति के लिए उत्तेजित करने वाली वस्तुओं के स्थान पर सात्विक भोजन, वस्त्र एवं पात्र ग्रहण करना।

४. **आदान समिति** - रोजमर्रा की आवश्यकताओं की वस्तुओं के लेन-देन, उनके रख-रखाव आदि में सावधानी रखना।

५. **मनःसमिति** - मन में आने वाले विचारों में दोषपूर्ण एवं प्राणों के घातक विचार भी हो सकते हैं। जिन्हें मन से हटाना साधु के लिए आवश्यक है।

बारह अनुप्रेक्षाएँ - अनुप्रेक्षा का अर्थ होता है गहन चिन्तन करना। आत्मा द्वारा विशुद्ध चिन्तन होने के कारण इनमें सांसारिक वासना-विकारों का कोई स्थान नहीं रहता है, फलतः साधक विकास करता हुआ मोक्षाधिकारी होने में समर्थ होता है। जब आत्मा में शुभ विचारों का उदय होता है, तब अशुभ विचारों का आना बंद हो जाता है। राग-द्वेषादि भावों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही अनुप्रेक्षाओं का विधान किया गया है, जिसके अंतर्गत जीवों को विरक्त कराने के लिए संसार की अनित्यता का विभिन्न प्रकार से विचार करने पर बल दिया गया है। अनुप्रेक्षाओं को वैराग्य की जननी भी कहा जाता है।[६२] अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं। इन्हें भावना के नाम से भी जाना जाता है। अनुप्रेक्षाएँ निम्न हैं -[६३]

१. अनित्यानुप्रेक्षा	२. अशरणानुप्रेक्षा	३. संसारानुप्रेक्षा
४. एकत्वानुप्रेक्षा	५. अन्यत्वानुप्रेक्षा	६. अशुचित्वानुप्रेक्षा
७. आस्रवानुपेक्षा	८. संवरानुप्रेक्षा	९. निर्जरानुपेक्षा
१०. धर्मानुप्रेक्षा	११. लोकानुप्रेक्षा	१२. बोधिदुर्लभानुपेक्षा।

इस प्रकार उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाओं के पालन में साधक संसार-संबंधी दुःख, सुख, पीड़ा, जन्म-मरण आदि का चिन्तन-मनन करता हुआ अंतर्मुखी वृत्ति को प्राप्त करता है और उसकी रागद्वेषादि की भावना क्षीण होती है, वह आत्मशुद्धि की प्राप्ति करता है।

परीषह - समभावपूर्वक सहन करना परीषह कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थ जो सहन करने योग्य हों, वे परीषह हैं।[६४]

यद्यपि तपश्चर्या में भी कष्टों को सहन करना पड़ता है, लेकिन तपश्चर्या में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, जबकि परीषह में स्वेच्छा से कष्ट सहन नहीं किया जाता है, बल्कि श्रमण जीवन व्यतीत करते हुए यदि कोई संकट उपस्थित हो जाता है, तो उसे सहन करना पड़ता है। परीषहों की संख्या बाईस बतायी गई है-[६५]

१. क्षुधा परीषह २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. अचेल, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषधा, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृण, १८. मल, १९.सत्कार, २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान तथा २२. दर्शन परीषह।

इन परीषहों को जीतना साधक के लिए आवश्यक है, क्योंकि-परीषह विजय के बिना चित की चंचलता समाप्त नहीं होगी, मन एकाग्र नहीं हो पायेगा, फलतः न सम्यक् ध्यान होगा और न कर्मों का क्षय ही हो पायेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन वाङ्मय में श्रमण-जीवन की आचारसंहिता का मूलभूत आधार पंच महाव्रत रहा है। श्रमण चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर । पंच महाव्रतों के पालन में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है। यद्यपि महाव्रतों की व्याख्या और उसकी चर्या-पद्धति में विरूपताएँ परिलक्षित होती हैं किन्तु उनका मौलिक आधार एक ही है। इसी प्रकार श्रावक की आचारसंहिता का वर्णन मुख्यतः दो रूपों में प्राप्त होता है जिनमें प्रथम प्रकार में ग्यारह प्रतिमाएँ तथा दूसरे प्रकार में बारह व्रतों की चर्चा होती है। श्रावक-प्रतिमाओं के प्रयोग का क्रम वर्तमान में भी प्रचलित है। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ श्रावक के लिए हर समय, तो कुछ सीमित समय के लिए और कुछ बार-बार पुनरावृत्त की जाती हैं। प्रतिमाधारी श्रावक का समाज में विशेष स्थान होता है।

सन्दर्भ

१. योगशास्त्र १/१५ २. तत्त्वार्थवार्तिक १/१

३. वही १/१ ४. योगप्रदीप ७९

५. अध्यात्मकल्पद्रुम ९/१५ ६. योगशास्त्र १२/२

७. वही १२/४ ८. षोडशक ३/६

९. वही ३/७-११ १०. योगबिन्दु ३७१

११. जैन-आचार - डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. ८३

१२. धर्मामृत (सागर) १/२० १३. चारित्रसार - पृ. २०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. धर्मबिन्दु १/२

१५. जैनआचार, पृ. ८३-८४

१६ योगशास्त्र २/१

१७. प्राभृतसंग्रह पृ., ५९

१८. धर्मामृत २/२

१९. चारित्रसार, पृ. १५

२०. दशवैकालिक ४/७

२१. योगशास्त्र २/१८

२२. धर्मबिन्दु ३/१६

२३. उपाशकदशांग १-१३

२४. योगशास्त्र २/२१

२५. उपाशकदशांग १/४१

२६. वही १/१४

२७. श्रावक प्रतिक्रमण - दूसरा अणुव्रत

२८. योगशास्त्र २/५४

२९. उपासकदशांग १/४२

३०. योगशास्त्र २/७०

३१. उपासकदशांग १/४४

३२. योगशास्त्र ३/९३

३३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३९-३४०

३४. तत्त्वार्थसूत्र ७/२४

३५. धर्मामृत (सागर) ५/१

३६. योगशास्त्र ३/१

३७. धर्मामृत (सागर) ५/६

३८. वही ३/५

३९. वही ५/२०

४०. तत्त्वार्थसूत्र, पृ. १८२

४१. उपासकदशांग १/४९

४२. योगशास्त्र ३/८५

४३. वही ३/११७

४४. वही ३/८४

४५. वही ३/११८

४६. जैन-धर्म-दर्शन - डॉ. मेहता, पृ. ५६०

४७. धर्मामृत (सागर) ३/२-३

४८. दशाश्रुतस्कन्ध ६-७

४९. वसुनन्दी, श्रावकाचार २०१-३०१

५०. उपासकाध्ययन ४६/९११

५१. योगशतक ३३-३५

५२. मूलाचार १/२-३

५३. बोलसंग्रह, भाग - ६ पृ. २२८

५४. जैनधर्म में अहिंसा, डॉ. सिन्हा, पृ. १८४

५५. मूलाचारगाथा २९०

५६. तत्त्वार्थसूत्र, पृ. १६९

५७. आचारांगसूत्र - द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्याय १५, पृ. १४४५-१४४६

५८. मूलाचार - गाथा २१३

५९. उत्तराध्ययन - २४/२६

६०. योगशास्त्र १/४५

६१. उत्तराध्ययन २४/२३

६२. छह ढाला ५/१

६३. योगशास्त्र ४/५५-५६

६४. तत्त्वार्थसूत्र ९/८

६५. तत्त्वार्थसूत्र ९/९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org